



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(5): 33-36

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 12-07-2016

Accepted: 13-08-2016

रवीन्द्र कुमार दास

संस्कृत विभाग

राजधानी महाविद्यालय (दि.वि.)

महात्मा गाँधी मार्ग, राजा गार्डन

नई दिल्ली-110015

शाङ्कर मत में भ्रम की संरचना और साक्षि-चैतन्य

रवीन्द्र कुमार दास

प्रस्तुत प्रपत्र में साक्षि चैतन्य की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस अवधारणा के स्पष्टीकरण के लिए भ्रम की संरचना को समझना आवश्यक है अतएव उस पर विचार किया गया है।

शाङ्कर मत के अनुसार, जीव का जीवत्व अनादि अज्ञान का प्रक्षेपण मात्र है, वस्तुतः जीव शुद्ध चैतन्य आत्मा यानी ब्रह्म ही है।¹ शब्दान्तर से कहा जाय तो जीवत्व चैतन्य और अज्ञान का इतरतर अध्यास है।² जीव का जीवत्व यद्यपि कालाकलन की दृष्टि से अनादि कहा गया है।³ अर्थात् नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा कब क्यों और कैसे अविद्या से उपाधिग्रस्त हुआ, नहीं कहा जा सकता, तथापि यह कहा गया है कि जीवत्व सान्त है। इसी संकल्प सूत्र को मुख्य बनाकर यह दर्शन-मीमांसा जीव को ही अपने विमर्श का अधिष्ठान बनाती है।⁴ जीव का शुद्ध चैतन्य पक्ष, जो कि साक्षि-चैतन्य पद से अभिहित किया जा सकता है, अपने विषय यानी (अनात्म) अज्ञान को, जो इस दर्शन में 'भ्रम' के अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है, मूल रूप में पहचान लेता है तभी दर्शन का वास्तविक गंतव्य यानी संसारभाव से मुक्ति अर्थात् ब्रह्मभाव की पुनर्प्राप्ति, पूर्णता को प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि अज्ञान का अधिष्ठान व्यक्तिगत आत्मा यानी जीव है जबकि अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं प्रत्युत ज्ञानवत् भ्रान्ति है, एक प्रतीति है।

यद्यपि परमार्थरूप में, अद्वैत ही वास्तविक है तथापि व्यावहारिक स्तर पर द्वैत, आत्म-अनात्म का या ज्ञाता और ज्ञेय का, स्वीकारा गया है। यह व्यवहार जगत् यानी नानात्व से संचालित संसार भाव शंकर दर्शन के चिन्तन का केन्द्र है। अस्तु!

आत्म-अनात्म-द्वैत को केन्द्र बनाकर शंकर संसार की व्याख्या करते हैं और संसार व्याख्या पक्ष में अनात्म, जिसे माया⁵ कहा गया है, को भाव सत्ता के रूप स्वीकार करते हैं। माया, जो संसार का अनिवार्य कारण है वह, आवश्यक रूप से आत्मा या ब्रह्म पर आश्रित है। संसारभाव में यदि आत्मा विषयी है तो माया विषय है। सहजबोध की भाषा में आत्मा 'अस्मत्प्रत्ययगोचर' है तो 'अनात्म' युष्मत्प्रत्यय गोचर है। अस्मत्प्रतीति के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं हो सकती, क्योंकि यह वदतोव्याघात होगा। यही अस्मत्प्रत्ययगोचर आत्मा 'साक्षि' है, ज्ञाता है जो युष्मत्प्रत्ययगोचर अनात्म को अपना विषय बनाता है, त्रिकालबाधित होने से। फिर भी, उसकी गोचरता का, प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह सर्वजन प्रत्यक्ष है। इसे भ्रम यानी अध्यास के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

अब, बारी बारी से, चेतन द्रष्टा यानी साक्षि-चैतन्य और इसके विषय माया के हेतुभूत भ्रम यानी अध्यास की समीक्षा की जाएगी।

'साक्षित्व' को, शाङ्कर मत के अनुसार, आत्मा का द्रष्टा रूप कहा गया है, ऐसा द्रष्टा, जो दर्शन के बाद भी दृश्य के प्रति अविकारी बना रहता है।⁷ अन्यत्र पाणिनि सूत्र के आधार पर इसे साक्षाद् द्रष्टा कहा है।⁸ साक्षि स्वयं सिद्ध अवधारणा है इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। और, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है इसलिए स्वयं प्रकाश होना और बिना किसी साधन के प्रकट (प्रकाशित) होना एक ही बात है।⁹

आत्मा, जीव और साक्षि - तीनों ही अवधारणाएँ चैतन्य के प्रकार हैं। ये तीनों पारमार्थिक स्तर पर एक ही हैं किन्तु अवधारणात्मक स्तर पर तीनों में कोटि भेद हैं। आत्मा में किसी प्रकार की सीमितता का आरोप

Correspondence

रवीन्द्र कुमार दास

संस्कृत विभाग

राजधानी महाविद्यालय (दि.वि.)

महात्मा गाँधी मार्ग, राजा गार्डन

नई दिल्ली-110015

नहीं लगाया जा सकता क्योंकि शुद्ध आत्मा किसी भी व्यापार, यहाँ तक कि ज्ञान व्यापार (ज्ञान व्यापार से यहाँ वृत्तिज्ञान अभिप्रेत है) से भी, रहित है। वहीं जीवात्मा, सूक्ष्म अन्तःकरण से लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त - सबसे संबद्ध होने के नाते कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता आदि सभी जागतिक व्यवहारों का अधिष्ठान होता है।¹⁰ किन्तु साक्षी इन दोनों - आत्मा और जीव के बीच की अवस्थिति है जो न तो शुद्ध आत्मा है न ही भावुक जीवात्मा। जीवात्मा जहाँ अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा है वहीं साक्षी अन्तःकरणोपहित आत्मा है।¹¹ इस प्रकार यह निरपेक्ष आत्मा जीव के हवाले से साक्षी कहलाता है। "साक्षी शब्द का अर्थ है तटस्थ द्रष्टा किन्तु साक्षी की धारणा सापेक्ष है और इसीलिए साक्षी स्वरूपतः ब्रह्म नहीं है।"¹² साक्षी को निरपेक्षचैतन्य के रूप में नहीं लिया जाता बल्कि शाश्वत चैतन्य होते हुए भी जीव की परिधि में रहता है। प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर बोधग्राहक, भावुकतापूर्ण तथा इच्छाशक्ति सम्बन्धी अनुभूति के अतिरिक्त एक साक्षिरूप आत्मा विद्यमान है। शाश्वत चैतन्य साक्षी को कहा जाता है जबकि अन्तःकरण उसके सहायक के रूप में कार्य करता है और उक्त सहायक के द्वारा यह प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है। इस सहायक उपस्थिति परम चैतन्य को साक्षी रूप आत्मा में परिणमन करने के लिए पर्याप्त है।¹³

अब, साक्षि-चैतन्य को ज्ञानमीमांसा के आलोक में देखा जाना अपेक्षित है। शाङ्करमत चेतनतत्त्व को स्वरूपतः निष्क्रिय मानता है। जो भी सक्रियता इसमें, ज्ञान प्रक्रिया में, दिखाई देती है, वह आभासीमात्र है और जो वस्तुतः इसके भौतिक सहचर, अन्तःकरण का धर्म है। चेतनतत्त्व को साक्षी कहा गया है जो सांख्य योग के 'पुरुष' के समकक्ष है। यह अन्तःकरण की वृत्तियों का निष्क्रिय द्रष्टा है। यह शुद्धरूप में कभी दिखाई नहीं देता है। विलोमतः अन्तःकरण की भी एक या दूसरे साक्षी के सम्बन्ध के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण का संयुक्त रूप ही वास्तविक है।¹⁴

इस मत में ज्ञान के दो प्रकार बताए गए हैं - परोक्ष और अपरोक्ष। दोनों में अन्तर यह है कि पहले में वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान होता है जबकि दूसरे में उसका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। दोनों प्रकार के ज्ञान साक्षि-व्याप्त अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं। अतएव कहा जा सकता है कि "ज्ञान का मतलब न अन्तःकरण की वृत्ति है न स्वयं साक्षि-चैतन्य बल्कि दोनों का मिश्रण यानी साक्षी अनुप्राणित वृत्ति है।"¹⁵ अब, इस मत के अनुसार, "मानसिक वृत्ति में कोई विषय अवश्य होना चाहिए, चाहे वह विषय स्वयं वृत्ति हो या अन्य कुछ।"¹⁶ शङ्कर की दृष्टि में वृत्तिज्ञान में बाह्यार्थ तथा ज्ञाता का होना अनिवार्य है। यहाँ उल्लेखनीय प्रसंग है कि ज्ञान और साक्षी के स्वभाव के वैषम्य से उपलब्ध और उपलब्धा भाव उपपन्न हैं।¹⁷

यह सामान्य धारणा कितनी निर्मूल है कि शङ्कर दैनिक अनुभवों की वस्तुओं को मिथ्या या असत् कहते हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो वे भ्रम की वस्तुओं तक को एक प्रकार की सत्ता प्रदान करते हैं। अस्तु! अब किञ्चित् भ्रम की संरचना पर विचार किया जाता है कि भ्रम किस तरह सत्तावान् वस्तुओं को उत्पन्न करता है?

भ्रम की अवधारणा के लिए शङ्कर अधिकांशतः 'अध्यास' पद का प्रयोग करते हैं। इसी पदावली में भ्रम की परिभाषा है - स्मृति रूप

विषय, जो पहले से देखा (जाना) है, का किसी अन्य अधिष्ठान में प्रतीत होना अध्यास है।¹⁸ इस अध्यास का हेतु अविद्या है। तो इस अविद्या का स्वरूप कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि यह एक प्रकार का अविवेक है जिसमें अत्यन्त भिन्न धर्मों और धर्मियों का परस्पर भेद-ज्ञान नहीं होता और जब धर्मों का भेद सुविज्ञात हो तो फिर वह विद्या है जिसमें ज्ञेय वस्तुओं का निश्चित स्वरूप ज्ञात होता है।¹⁹

भ्रम-सिद्धान्त, जो सामान्यतः सामान्यजन से लेकर सभी दार्शनिक प्रवर्ग के विद्वानों को - सबको सुविदित भी है और स्वीकार्य भी। 'भ्रम' की विवेचना में किञ्चित् अन्तर हो सकता है किन्तु सभी मानते हैं कि 'अन्य में अन्य की प्रतीति ही भ्रम है।'²⁰ शङ्कर का ब्रह्मसूत्र भाष्य अध्यास विमर्श से केन्द्रित होता है। इसी से (भ्रम) विषय की गंभीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। अब, अध्यास के उक्त लक्षण का विश्लेषण अपेक्षित है - स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। इसमें परत्र अवभासः अर्थात् अन्य अधिष्ठान में प्रतीति - यही अध्यास का लक्षण है। यह लक्षण कुछ शङ्काएँ रखता है - (1) किसकी प्रतीति? और (2) किस कारण प्रतीति? पहले प्रश्न का उत्तर है पूर्वदृष्ट यानी पहले से ज्ञान की प्रतीति (इस दर्शन में पूर्व का अर्थ जन्मनि जन्मान्तरे वा अर्थात् पूर्वजन्म का भी ज्ञान हो सकता है)। और दूसरे प्रश्न का उत्तर है - स्मृति की वस्तु का स्मरण (प्रक्षेपण)। एक उदाहरण से विश्लेषण की स्थिति और स्पष्ट हो जाती है, जैसे - शक्ति में रजत की प्रतीति। प्रत्येक वस्तु के दो अंश होते हैं - सामान्य और विशेष। अधिष्ठान के सामान्य अंश का ज्ञान, विशेष अंग का अज्ञान (ज्ञान का अभाव), सादृश्य, भेदाग्रह आदिभ्रम में अपेक्षित है। 'यह शक्ति है' में 'यह' का ज्ञान सामान्य अंश का ज्ञान है, शक्तित्व का, जो शक्ति का विशेष अंश है, ज्ञान नहीं होता, रजत के सादृश्य 'चमकीला' का ज्ञान हो जाता है और 'रजत है' ऐसा भ्रम हो जाता है।²¹

चाहे अध्यस्त वस्तु हो या स्वप्न की वस्तु - दोनों ही मन की वस्तु होती है। इसकी सत्ता तो इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जब तक व्यक्ति (विषयी) भ्रान्त ज्ञान वाला होता है, उसे यह विचार करने की आवश्यकता ही नहीं होती है कि यह भ्रम है या वास्तविक ज्ञान है। बल्कि वह इसे तत्काल पूर्ण रूप से वास्तविक समझकर ही प्रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है।²² यह अलग बात है कि 'यह शक्ति है रजत नहीं' ऐसा ज्ञान हो जाने पर अध्यस्त रजत और रजत ज्ञान दोनों ही बाधित हो जाते हैं। लाख यत्न के बाद भी शक्ति रजत नहीं दिखता। इस प्रकार दोनों धर्मियों का भेद न गृहीत होने पर भ्रम उत्पन्न होता है। पूर्व-पूर्व संस्कार द्वारा उत्तरोत्तर अध्यास में हेतु है।²³

यहाँ एक स्वाभाविक सा प्रश्न होता है कि भ्रम क्यों होता है? उत्तर में कहा जाता है - अज्ञान के कारण। अस्तु! परञ्च, भ्रम कैसे होता है साक्षि चैतन्य तो प्रकाशक है? यह बात पहले भी बताई जा चुकी है कि अन्तःकरण की वृत्ति साक्षि-चैतन्य का माध्यम है। वृत्ति यदाकारा होगी साक्षी उसे ही प्रकाशित करेगा। वृत्ति यदि रुग्ण है या भ्रममूलक है या वस्तुमूलक है - साक्षी उसे उसी रूप में प्रकाशित करेगा।²⁴

शङ्कर के अनुसार, स्वाभाविक लोक व्यवहार के लिए यानी संसार व्यवस्था के लिए आत्म और अनात्म का इतरेतर अध्यास अनिवार्य है जिसे वे सत्य और अनृत का मिथुनीकरण भी कहते हैं।²⁵ अब, चूँकि इस अध्यास विमर्श का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि अद्वैत आत्म

तत्त्व ही एकमात्र सत्य है और अनात्म प्रतीति, जो कि अनादि काल से चली आ रही है, अध्यासपरक है। अतएव, यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह अध्यास प्रक्रिया सिर्फ चेतन अर्थात् स्मृति, संस्कार आदि धारण कर सकने वाले पर ही अधिष्ठित है। भ्रम मीमांसा का विवेच्य आत्मा पर अनात्म का और अनात्म पर आत्मा का अध्यास है। इस मौके पर एक शंका हो सकती है कि भ्रम तो सामने पड़ी हुई वस्तु पर ही होता है जैसे रस्सी में सांप या सीपी में चांदी आदि फिर प्रत्यगात्म यानी गहरे में अवस्थित, इन्द्रिय अगोचर तथा अविषय आत्मा पर अध्यास का प्रसङ्ग कैसा? किन्तु यह कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है कि सामने पड़ी हुई वस्तु पर ही भ्रम हो। बल्कि अज्ञानी जन तो प्रत्यक्ष के अयोग्य आकाश पर भी (उसका प्रत्यक्ष कर फिर उस पर) सतह वर्ण आद का अध्यास कर लेते हैं।²⁶ यह तो नहीं देखे जाने के योग्य विषय पर अध्यास होने की बात हुई। फिर यह कहा जाना कि आत्मा शुद्ध अविषय है, युक्त नहीं है। आत्मा सर्वथा विषय नहीं है प्रत्युत् अस्मत्प्रत्यय का विषय है।²⁷ ध्यान देने की बात है आत्मा भी विषय इसलिए कहा गया है क्योंकि अध्यास प्रक्रिया विशुद्ध आत्मा में नहीं बल्कि अज्ञानोपहित आत्मा अर्थात् अनादि जीव में होती है।

शङ्कर स्पष्ट करते हैं कि इस संसार की सारी व्यवस्था चाहे वह प्रमाण प्रमेय का बौद्धिक व्यापार हो या क्रिया-प्रतिक्रिया का पशुवत् नैसर्गिक व्यवहार या फिर लौकिक-वैदिक शास्त्रीय व्यवहार हो या लोक परलोक सम्बन्धी यज्ञ याग का व्यापार - इसी आत्मा और अनात्म के परस्पर अध्यास के कारण ही संभव हो पाता है।²⁷ यह अध्यास वस्तुतः और कुछ नहीं बल्कि “उससे भिन्न में उसकी बुद्धि” है।²⁸ यह एक आरोपण बुद्धि है जिसकी कहीं कोई सीमा नहीं है। किसी भी निर्णय की सत्यता केवल इस बात पर निर्भर करती है कि निर्णय वाक्य का अर्थ वस्तु के अर्थ की वास्तविक स्थिति से संवादिता बनाता है अथवा नहीं। निर्णय की प्रामाणिकता के लिए अनिवार्यतः वस्तु पर निर्भर करना होता है। सत्य एक होता है क्योंकि वस्तुतंत्र होता है।²⁹ किन्तु असत्य निर्णय कितने हो सकते हैं यह प्रायः इस बात पर निर्भर करता है कि अनुभोक्ता की स्मृति अथवा कल्पनाशक्ति कितनी प्रतिभाशालिनी है - कितने विकल्पों का प्रत्यारोपण कर सकती है।

तो भी, इससे ऐसा नहीं माना जाएगा कि शंकर विज्ञानवादियों की तरह सांसारिक अनुभूतियों का अपलाप करे हैं। बल्कि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सभी अनुभूतियों (प्रतीतियों) को, यहाँ तक कि भ्रम की अवस्था में या स्वप्न में हुई अनुभूतियों को भी, अन्तःकरण वृत्ति वाले साक्षी की उपलब्धि मानते हैं। ज्ञाता या प्रमाता साक्षि-चैतन्य ही है जो कि अन्तःकरण की वृत्ति वाला है। सांख्य योग की तरह अन्तःकरण को ही ज्ञाता नहीं स्वीकार किया गया है।³⁰ तथापि एक पृथक् प्रसङ्ग जो ध्यान देने लायक है भ्रान्ति, जो कि अन्तःकरण की एक वृत्ति है, के निवारण के लिए पुनः अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति की ही कारणता होती है और दोनों ही संवेदना के क्षणों में साक्षि-चैतन्य की उपस्थिति अनिवार्य है।³¹

अब, किञ्चित् स्वप्न की भी चर्चा अपेक्षित है³² क्योंकि भ्रम-विमर्श में स्वप्न एक गंभीर तथा महत्त्वपूर्ण उदाहरण के रूप में सामने आता है। यदि कोई स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में स्त्री को देखता है या पानी पीता है या सर्प देखता है तो वहाँ अनिवार्यतः स्त्री, पानी या सर्प में इन्द्रिय-साक्षात्कार नहीं होता है तो फिर कैसे देखता है? जैसा कि

अध्यास में होता है, अन्तःकरण की वृत्ति अपनी स्मृति के सादृश्यमूलक वस्तु प्रक्षेपित कर उसे ज्ञान का विषय बनाती है - वह वस्तु स्मृति की होती है। उसी तरह स्वप्न में, यद्यपि आरोप का अधिष्ठान (वैसा) नहीं होता है तथापि, अन्तःकरण की वृत्ति स्मृति की वस्तु का आकार ग्रहण करती है, साक्षी जिसे प्रकाशित करता है। जब तक अन्तःकरण की वृत्ति कार्यशील रहती है साक्षि चैतन्य बोध के लिए उस पर निर्भर करता है। जाग्रत् में तो जीव प्रतिक्रिया करता ही है, स्वप्न में भी चाहे ज्ञान-निर्णय अध्यस्त ही क्यों न हो, प्रतिक्रिया करता है।³³ इस तरह की प्रतिक्रिया के लिए चैतन्य की अन्तःकरण पर निर्भरता अनिवार्य है। जब साक्षि चैतन्य सुषुप्ति की अवस्था में होता है कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करता क्योंकि उस अवस्था में अन्तःकरण अपने मूलकारण अविद्या में लीन हो जाता है। अतएव साक्षी उससे विच्छिन्न होकर अपने शुद्ध स्वरूप में भासित होता है। किन्तु अविद्या के कारण ब्रह्ममय नहीं होता।³⁴ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस अवस्था में भी जीव का व्यष्टित्व बना रहता है। लेकिन व्यष्टित्व का कारण साक्षी स्वरूप आत्मा का अन्तःकरण से नहीं अपितु अविद्या से संयोग रहना है।³⁵ सुषुप्ति की इस अवस्था में साक्षि चैतन्य आनन्दमय स्थिति को प्राप्त होता है जिसे अभिव्यंजित करते हुए छांदोग्योपनिषद् में कहा गया है - ‘प्रत्येक जीव प्रतिदिन ब्रह्मलोक की सैर करता है पर कोई इस बात को समझ नहीं पाता।’³⁶ हालांकि सुषुप्ति की विशेषताओं का ज्ञान उस समय किसी को भी नहीं होता क्योंकि अन्तःकरण के न होने से परोक्ष या अपरोक्ष किसी तरह का ज्ञान (वृत्तिज्ञान) संभव नहीं है। फिर भी, चेतना रहती है जैसाकि बाद में उसके स्मरण से प्रकट होता है कि उस समय मैंने कुछ भी नहीं जाना।³⁷

साक्षी पद अनेक बार आत्मा के साथ भी आया है। किन्तु साक्षी को निरपेक्ष द्रष्टा नहीं कहा जा सकता, जब तक उसका साक्षित्व है। साक्षि-चैतन्य की यह भूमिका तो अनिवार्यतः है कि किसी प्रकार का ज्ञान यानी प्रतीति, जो अंतःकरण के माध्यम से होता है यानी भ्रम या वृत्तिज्ञान, साक्षि-चैतन्य के प्रकाशकत्व में ही सम्पादित होगा। ब्रह्मावगति के संदर्भ में आत्मा का ‘साक्षित्व’ यानी अंतःकरण का उपादान मूलाविद्या में लीन हो जाने से वह स्वयं ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता के त्रित्व को समाहित कर एक हो जाता है और ‘साक्षी’ भूमिका का निष्प्रयोज्य होना युक्तिसंगत दिखता है। ज्ञान की रचना निर्णय वाक्य में केवल तभी होगी जब अन्तःकरण दर्शन में निमग्न रहेगा। इस तरह भ्रमात्मक प्रतीति हो या ज्ञानात्मक अनुभूति, जागतिक प्रतीति हो या ब्रह्मानुभूति-साक्षि-चैतन्य प्रकाशक मात्र है। क्रिया-प्रतिक्रिया तथा इसका निर्देशक अन्तःकरण का धर्म है जो अनात्म है अतएव परमार्थतः मिथ्या है।³⁸

संदर्भ और स्पष्टीकरण

1. जीव ब्रह्मैव नापरः।
2. आत्मोदिताहंकृतिरात्मत्वं तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम्। वि.यू. 144 और भी, महाकाशाद् घटाकाशोत्पत्तिसमा। मां.का.भा. 3.3.
3. अनादिकालोऽयमहं स्वभावो जीवः। वि.चू. 188.
4. अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय... सर्वे वेदान्ता प्रारभ्यते। ब्र.स.भा. (अध्यास खण्ड)

5. आत्म माया विसर्जिताः। मां.का. 3.10 तथा, माया यया जगत्सर्वभिदं प्रसूयते। वि.चू. 110.
6. यह इतरेतर अध्यास है। द्रष्टव्य - ब्रःसू.भा. की भूमिका (अध्यास भाष्य)
7. आत्मनः साक्षिमात्रत्वं न कर्तृत्व न भोक्तृता। सर्व.वे.सा.सं. 425.
8. सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम् (पा.सू. 5.2. 61) श्वे.उप.भा. 6.11
9. स्वयंसिद्धस्य साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। ब्र.सू.भा. 2.2.28. साथ ही देखें, हिरियाना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हि.अ.) पृ. 342 में पंचदशी का उल्लेख किया गया है।
10. आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः। ब्र. सू.भा.भू
11. अन्तःकरणविशिष्टो जीवः अन्तःकरणोपहितः साक्षी। वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, पृ. 102 और भी देखें, राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग-2, पृ. 524.
12. हिरियाना, पूर्वोक्त, पृ. 341, पादटिप्पणी।
13. राधाकृष्णन, पूर्वोक्त। पृ. 524.
14. हिरियाना, पूर्वोक्त, पृ. 341.
15. वही पृ. 342.
16. भ्रम, स्वप्न या वृत्तिज्ञान - सभी स्थितियों में साक्षि-चैतन्य 'मानसिक वृत्ति' को ही विषय करता है।
17. साक्षिप्रत्ययोश्च स्वभाववैषम्याद्युपलब्धुपलभ्यभावोपपत्तेः। ब्र.सू.भा. 2.2.28.
18. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वद्रष्टावभासः। ब्र.सू.भा.भू
19. एवं लक्षणं अध्यासं पाण्डिता अविद्येति मन्यन्ते, तद्विवेकेन च वस्तु स्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। वही.
20. अन्यस्यान्यत्रावभावसतां न व्यभिचरति। वही.
21. सत्यानन्द, स्वामी, सत्यानन्दी दीपिका, ब्र.सू.भा., पृ. 5.
22. शाङ्कर द्वारा की गई अध्याय की परिभाषा में आए पद 'स्मृतिरूप' से स्पष्ट है। भ्रम या स्वप्न में स्मृति रूप विषय ही अध्यारोपित होता है। अपिच, किसी भी वृत्तिबोध में मन (अंतःकरण) ही विषय से संबद्ध होता है। मन जो भी यथार्थ-अयथार्थ उपलब्ध करता है, साक्षी उसे प्रकाशित करता है। यह प्रतीति वास्तविक थी या अवास्तविक (भ्रम या स्वप्न) - यह अवबोध पश्चात्प्रतीति से होता है अर्थात् भ्रम/स्वप्न निवारक प्रतीति का भी प्रकाशक साक्षी है। उसे, यदि, मानसिक वस्तु (जैसा योगाचारवादी बौद्ध मानते हैं) मान लिया जाये और बाद की प्रतीति को भी मानसिक वस्तु ही माना जाये तो उसका बाध होना संभव नहीं। मन की वस्तु [(मनः प्रसूते अर्थात् मन ने जिसे उत्पन्न या प्रक्षेपित किया है वि.चू.) तथा (अन्तश्चेत या मनोरम संकल्पितम् - मां.का. 2.6) लेने पर उसका बाध होना युक्तिसंगत है] 'मानसिक वस्तु' में मन की अनवधानता का कोई प्रसङ्ग नहीं है जबकि 'मन की वस्तु' पद प्रयोग से मन की अनवधानता और सावधानी में अन्तर हो सकेगा क्योंकि यह एक सापेक्षिक निकष यानी साक्षी दृष्टा पर निर्भर है। मन से भूल हो सकती है - शाङ्कर पक्ष है जबकि योगाचार पक्ष है - मन भूल ही करता है। भ्रान्त या स्वाप्न मन निजी वस्तु से सम्बद्ध होता है और निर्भ्रान्त तथा जागरित अवस्था

- में सार्वजनिक वस्तु से सम्बद्ध होता है। ब्र.सू. भा. 1.1.2 के अनुसार ज्ञान एक है और अज्ञान अनेक प्रत्येक अनुभोक्ता का पृथक् हो सकता है। (वस्तुतंत्रम् तथा पुरुषतंत्रम्)। अज्ञान के वशीभूत विषयी अपने को अज्ञान में नहीं मानता बल्कि ज्ञानवत् प्रतीति की तरह नैसर्गिक प्रतिक्रिया करता है। जैसे रज्जु सर्प दृष्टान्त से द्रष्टा अनिवार्यतः मन की वस्तु सर्प से (यदि वह सर्प से डरता है तो) डरेगा - भय, स्वेद, प्रकम्प वस्तुतः उपस्थित होंगे। इसका कारण यह है कि ग्राह्य-ग्राहक भेद बना हुआ रहता है। मानसिक वस्तु के पक्ष में साक्षी की निरपेक्षता सत्ता के अभाव में भेद संभव नहीं। विस्तृत के लिए द्रष्टव्य - ब्र.सू.भा. 2.2.28-32.
23. सत्यानन्द, स्वामी, पूर्वोक्त
24. तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्येनानुभूयते। कस्याप्यननुभूतार्थं साक्षित्वं नोपपद्यते। वि.चू. 217.
25. सत्यानृते मिथुनीकृत्या। ब्र.सू.भा.भू
26. अप्रत्यक्षेऽपि आकाशे बालास्तलमिलनताद्यध्यसन्ति। वही.
27. पशवादिभिश्चाविशेषात्। वही.
28. अतस्मिस्तदबुद्धिः। वही.
29. एवं भूतवस्तु विषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतंत्रम्। ब्र.सू.भा. 1.1.2.
30. द्रष्टव्य, सां.का. 23, जिसमें कहा गया है ज्ञान, प्रकाशकत्व बुद्धि का सात्विक रूप है। पुरुष द्रष्टा हैं किन्तु ज्ञाता नहीं, क्योंकि साक्षित्व के लिए द्रष्टा होना आवश्यक होता है। उसके देखने/नहीं देखने से कोई अन्तर नहीं है क्योंकि मुक्ति या अपवर्ग प्रकृति का होता है।
31. अवस्थात्रयसाक्षी। वि.चू.। अवस्थात्रय से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में तीन अवस्थाएं अभिप्रेत हैं।
32. मां.का. और उस पर शां.भा. में स्वप्न चर्चा की आवृत्ति महत्वपूर्ण प्रमाण है।
33. स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्कालीन नानाविधवासनाभिः कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते। वि.चू. 100, तथा, स्वप्नान्यश्च न जागरित इव पश्यति यात्रागतं भुंजान्भिव च भोगान् बृ. उप.भा. 2. 1.18 तथा, मित्राद्यैः सह संमत्र्य। मां.का.भा. 4.36 और अन्तःकरण पर निर्भरता के लिए बृ.उप.का. 4.3.7 देखें तथा, देहस्थस्यैव हि स्वप्नदर्शनम्। वृ.उ.भा. 2.1.18.
34. स्वरूपादविकारि दोषे बहि... कृष्टा।
35. हिरियाना, पूर्वोक्त, पृ. 346.
36. इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनुतेन हि प्रत्यूढाः। छा.उ. 8.3.2 इस पर भाष्य भी द्रष्टव्य।
37. किञ्चिन्न वेद्येति जगत्प्रसिद्धः। वि.चू. 123.
38. वही 65-66.